International Journal of Education, Modern Management, Applied Science & Social Science (IJEMMASSS)
ISSN : 2581-9925, Impact Factor: 6.340, Volume 03, No. 04(II), October - December, 2021, pp.167-170

21वीं सदी में हिन्दी सिनेमा और बाजार

सीमा खड़कवाल*

सार

फिल्में समाज का दर्पण होती है। समाज की बात कर के, सामाजिक मुद्दों को उठाकर फिल्में स्वतः सामाजिक सरोकारों से जुड़ जाती है। पुरानी फिल्मों में फिल्मकार व्यावसायिकता को ऊपर रखते हुए भी सामाजिक मुद्दों की अनदेखी नहीं करते थे। अछूत कन्या, आवारा, श्री 420, अंदाज, मदर इण्डिया, सुजाता, बन्दिनी, साहब बीवी गुलाम, बूट पॉलिश, चौंदहवी का चाँद, दो बीघा जमीन जैसी फिल्में व्यावसायिक रूप से सफल होकर भी समाज को सन्देश देने में सफल होती रही है। इस स्थिति में बदलाव आया 90 के दशक में। देश में आये आर्थिक उदारीकरण एवं ग्लोबलाइजेशन ने सिनेमा में पूँजी के प्रवाह को बढ़ाया और हिन्दी फिल्मों को रिलीज के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मंच दे दिया। अब फिल्में समाज और दर्शक को ध्यान में रखकर नहीं बाजार को ध्यान में रखकर बनायी जाने लगी। मल्टीप्लेक्स का दौर शुरू हुआ। हिन्दी सिनेमा के परम्परागत दर्शक (ग्रामीण किसान, मजदूर, और निम्न मध्यम वर्ग) के लिए मल्टीप्लेक्स का मंहगा टिकट खरीदना बूते से बाहर की बात होने लगी। यह परम्परागत दर्शक मल्टीप्लेक्स से ही नहीं सिनेमा के पर्दे से भी गायब होने लगा। आर्थिक उदारवाद ने देश में नव धनाढ्य वर्ग पैदा किया। इसी नव धनाढ्य वर्ग और अप्रवासी भारतीयों को केन्द्र में रखकर फिल्में बनने लगी और सफल भी होने लगी। अब फिल्मकार के लिए सामाजिक मुद्दे गौण और आर्थिक मुनाफा महत्त्वपूर्ण हो गया। फिल्मों पर बाजार और उपभोक्ता संस्कृति हावी होती चली गयी। फिल्मों के आर्थिक मुनाफे को देख इस क्षेत्र में निवेश करने के लिए अनेक कॉरपोरेट घराने आ गये। क्राउड फण्डिग के जरिये फिल्मों में नयी प्रतिभाओं को अवसर मिला और फिल्मों का परिदृश्य बदला। नये कथ्य और प्रस्तुतिकरण को दर्शको ने उत्साह के साथ स्वीकार किया। फिल्मों का ट्रेन्ड बदला तो दर्शक और वितरक भी बदलने लगे। लेकिन कोरोना काल में अचानक सब कुछ ठहर गया, फिल्मों की शूटिंग रोक देने और बड़ी फिल्मों की रीलिज रूक जाने से फिल्म उद्योग को भारी आर्थिक नुकसान हुआ। लॉक डाउन में जहाँ मल्टीप्लेक्स बन्द थे वहीं ओटीटी प्लेटफॉर्म्स पर लघु फिल्मों और वेब सीरिज के रूप में दर्शको को नया सिनेमा भी देखने को मिला हैं। अब ओटीटी प्लेटफॉर्म्स नये मनोरंजन केन्द्र के रूप में उभरे है। आज बाजार के प्रभाव के कारण ही बॉलीवुड पर कुछ व्यक्तियों या घरानों का वर्चस्व नहीं रहा। गैर फिल्मी परिवारों से आये प्रतिभाशाली युवाओं को अब मौके मिल रहे है। उन्हें अवसर देने के लिए नेटफ्लिक्स, अमेजन प्राइम विडियो जैसी स्ट्रीमिंग कम्पनियाँ तैयार खड़ी है। उम्मीद की जा सकती है कि बाजार का यह सकारात्मक प्रभाव हिन्दी सिनेमा में एक नया अध्याय शुरू करेगा।

शब्दकोशः *लॉक डाउन, हिन्दी सिनेमा, ग्लोबलाइजेशन, ओटीटी प्लेटफॉर्म्स, वेब सीरिज।*

प्रस्तावना

सिनेमा आधुनिक काल में मनोरंजन का सर्वाधिक लोकप्रिय कला माध्यम है। समाज की बात करके, सामाजिक मुद्दों को उठाकर फिल्में स्वतः सामाजिक सरोकारों से जुड़ जाती है। समाज और सिनेमा परस्पर पूरक है। समाज में बदलाव के साथ फिल्में भी बदलती है। सिनेमा के आरम्भ से ही फिल्मकार अपने व्यावसायिक हितों को ऊपर रखते हुए भी सामाजिक मुद्दों की अनदेखी नहीं करते थे। सावकारी पाश, अछूत कन्या, दुनिया न माने, पड़ोसी, आवारा, श्री 420, मदर इण्डिया, साहब बीवी गुलाम, बूटपॉलिश, चौदहवीं का चाँद

[6] सह आचार्य–हिन्दी, स्व. राजेश पायलट राजकीय, स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बाँदीकुई, दौसा, राजस्थान।

जैसी फिल्में व्यावसायिक रूप से सफल होकर भी समाज को सन्देश देने में सफल होती रही है। इस स्थिति में बदलाव आया 90 के दशक में आर्थिक उदारीकरण के साथ। भारतीय समाज में बदलाव की बयार चली तो सिनेमा भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। सामाजिक प्रतिबद्धता और मानवीय संवेदना से युक्त फिल्मों की जगह अब हिंसा और शुद्ध मनोरंजन से युक्त फिल्मों ने ले ली।

80 के दशक के अन्तिम दौर में देश की आर्थिक स्थिति बेहद खराब हो चुकी थी। भारत के समक्ष विदेशी ऋणों के भुगतान को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संकट की स्थिति पैदा हो गई। देश का विदेशी मुद्रा भण्डार 1.1 अरब डॉलर ही रह गया था। इतनी रकम पन्द्रह दिनों के आयात के लिए भी पर्याप्त नहीं थी। कोई भी देश या बड़ा निवेशक भारत में निवेश करने के लिए तैयार नहीं था। इस संकट से उबरने के लिए देश ने अपना 47 टन सोना विदेश में गिरवी रखा। भारत को आर्थिक उदारीकरण की नीति को लागू करने की शर्त पर ही 'विश्व बैंक' और 'अन्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष' से आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ। आर्थिक उदारीकरण की नीति को उदारीकरण, निजीकरण, मुक्त बाजार, आर्थिक सुधार, नव उदारवाद आदि विभिन्न रूपों में जाना जाता है। आर्थिक उदारवाद, आर्थिक साम्राज्यवाद का एक नया और आक्रामक रूप है जिसका उद्देश्य सम्पूर्ण विश्व को बाजार में बदलकर आर्थिक मुनाफा कमाना है।

भारत सरकार ने निजी क्षेत्र को बढ़ावा देने, आयात में उदारता बरतने एवं विदेशी व्यापार पर लगे प्रतिबन्धों को हटाने पर अपनी सहमति देते हुए सन् 1991वें में देश में नयी आर्थिक नीति की घोषणा कर दी।

उदारीकरण के साथ आए भारतीय राजनीति के बदलाव का प्रभाव सिर्फ राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रहा बल्कि जनता में बदलाव आने के साथ–साथ फिल्म उद्योग में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए।[1] उदारीकरण के साथ ही भूमण्डलीकरण के प्रभाव से भी देश अछूत नहीं रहा। "भूमण्डलीकरण संस्कृति की यह विशेषता है कि इसका ताना–बाना प्रत्येक स्तर पर देखा जा सकता है। भूमण्डीकरण संस्कृति जब किसी देश में प्रवेश करती है तो इसका प्रवाह तेज गति से होता है और यह सभी सांस्कृतिक बंधनों को तोड़कर निकलती है जिसे हम 'ग्लोबल विलेज' या 'भूमण्डलीय गाँव' के नाम से जानते है। भूमण्डलीय संस्कृति वस्तुतः भूमण्डलीय गाँव की सृष्टि करती है और इस गाँव में वही जी सकता है जिसमें इस गाँव की प्रकृति के साथ रचने–बसने या घुलने–मिलने की क्षमता हो।"[2] भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया से उत्पन्न बाजारवाद ने समूचे भारतीय समाज को प्रभावित किया है और अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के रूप में फिल्म उद्योग के सामने नई संभावनाओं के द्वार खोल दिए।

आर्थिक उदारीकरण एवं विश्व बाजारवाद की संकल्पना ने हिन्दी फिल्मों के स्वरूप में आमूल परिवर्तन किये। सन् 1994 में आयी राजश्री बैनर की सूरज बड़जात्या निर्देशित 'हम आपके कौन' ने सिर्फ भारत में ही रिकॉर्ड़ तोड सफलता हासिल नहीं की बल्कि विदेशों में भी इस फिल्म का जादू चला। लंदन के वेल्वे थियटर में यह फिल्म 50 हफ्तों तक और टोंरटों के अल्बाइन सिनेमा में 75 हफ्तों तक चली। इस फिल्म ने हिन्दी सिनेमा में जो ट्रेन्ड आरंभ किया, उस के बारे में प्रहलाद अग्रवाल लिखते है, "आज हम जिस बदलाव को देख रहे है उसका सूत्रधार अनन्य नैतिक परम्परावादी ताराचंद बड़जात्या का पौत्र सूरज बड़जात्या है। उसने सबसे पहले 1994 में हिन्दी सिनेमा को डिजाइनर लुक दिया।.....गरज यह कि सूरज ने देसी जीवन में अमरीकन धड़कन फिट कर दी। सीधी–सादी देहाती 'नदिया के पार' पर ऐसी एन आर आई पॉलिश की, जिसने बाजार लूट लिया।"[3] इस फिल्म की सफलता के बाद ही बॉलीवुड़ में अन्तर्राष्ट्रीय दर्शको और प्रवासी भारतीयों को ध्यान में रखकर फिल्में बनायी जाने लगी। बरसों से विदेशों में रह रहे भारतीयों को ये फिल्में अपनी माटी से, अपनी संस्कृति से, अपने देश से, एक बार फिर जुड़ाव का एहसास करवा रही थी। इन फिल्मों में आये करवा चौथ–उत्सव, मँहगी साड़ियों में लिपटी आभूषणों से सजी नायिकाएँ, पारिवारिक ड्रामा और भव्य सेट भारतीय संस्कृति के प्रतीक बन गये। अब प्रवासी भारतीयों को ध्यान में रखकर ही फिल्में नहीं बनाई जा रही थी, बल्कि अब उनकों फिल्मों में किरदारों के रूप में प्रस्तुत करने का चलन भी बढ़ने लगा। प्रवासी भारतीयों की बढ़ती दर्शक के रूप में संख्या एवं हिन्दी सिनेमा के प्रति उनके क्रेज के कारण आज हिन्दी फिल्में विश्व के लगभग 90 देशों में प्रदर्शित होती है।[4]

दिलवाले दुल्हनियाँ ले जायेंगे, कुछ–कुछ होता है, कभी खुशी कभी गम, नमस्ते लंदन, ताल, परदेश, आ अब लौट चले, पटियाला हाउस, कभी अलविदा ना कहना, माय नेम इज खान, हम दिल दे चुके सनम, जिन्दगी ना मिलेगी दोबारा, प्रेम रतन धन पायों जैसी फिल्में अन्तर्राष्ट्रीय दर्शको को ध्यान में रखकर ही बनाई गयी है। करण जौहर ने तो एक बार स्वीकार भी किया था कि वे फिल्में यूपी, बिहार के दर्शको के लिए नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय दर्शको को ध्यान में रखकर बनाते है। फिजी, मॉरिशस, सूरीनाम, वेस्टइंडीज, अमेरिका, इंग्लैण्ड़, अरब देश आदि में हिन्दी फिल्में प्रदर्शित हो रही है। वैश्विक बाजार एवं मल्टीप्लेक्स कल्चर को ध्यान में रखकर फिल्में बनाने वाले निर्माताओं में यश चोपड़ा, करण जौहर, सूरज बड़जात्या, रवि चोपड़ा, आदित्य चोपड़ा, संजय लीला भंसाली, फरहान अख्तर, जोया अख्तर, सुभाष घई आदि है।

फिल्में पहले सिनेमाघरों में सिंगल स्क्रीन में दिखाई जाती थी। आर्थिक उदारीकरण ने देश में नवधनाढ्य वर्ग को जन्म दिया जो सुविधापूर्ण मनोरंजन के नाम पर पैसा खर्च करने को तैयार है। धीरे–धीरे देश में सिंगल स्क्रीन बन्द होने लगें और मल्टीप्लेक्स का दौर शुरू हुआ।

मुंबई के लिबर्टी सिनेमाघर को आधुनिकीकृत कर टिकट के दाम दो से तीन अंको तक पहुँचाने का श्रेय सूरज बड़जात्या को ही है। यहीं से मल्टीप्लेक्सों के निर्माण की नींव पड़ी।[5] सिंगल स्क्रीन का टिकट जो 50 या 60 रु का आता था, अब मल्टीप्लेक्स में उसकी कीमत 250 रु से 300 रु होने लगी। सिंगल स्क्रीन बन्द होने की वजह से हिन्दी सिनेमा के सबसे बड़े और परम्परागत दर्शक(ग्रामीण, किसान एवं मजदूर वर्ग) के लिए मल्टीप्लेक्स का महंगा टिकट खरीदना मुश्किल होने लगा। यह परम्परागत दर्शक मल्टीप्लेक्स से ही नहीं सिनेमा के परदे से भी गायब होने लगा। अब फिल्मों में गाँव की जगह भारतीय महानगरों और विदेशी लोकेशन्स ने ले ली। विदेशों में शूटिंग का प्रचलन बढ़ा। अब फिल्मों में सामाजिक मुद्दे गौण हो गये और फिल्मकार की दृष्टि में आर्थिक मुनाफा ही महत्त्वपूर्ण हो गया। फिल्मों पर भी बाजार और उपभोक्ता संस्कृति हावी होने लगी। बाजार ने सिनेमा के हर पहलू को प्रभावित किया। फिल्मों में पहले नायक किसान(गंगा–जमुना–सरस्वती, दो बीघा जमीन) मजदूर (नया दौर, कुली) या आम इन्सान (सत्यकाम, मशाल) होता था, जो व्यवस्था के विरूद्ध आवाज उठाता था। जो अन्याय और शोषण को सहन करने के लिए तैयार नहीं था। इन नायकों का जीवन, समस्याएँ आम–आदमी के जीवन के करीब होती थी। जबकि आज बाजारवाद के प्रभाव के कारण फिल्मों में नायक को जिस प्रकार प्रस्तुत किया जा रहा है, उसका जो चरित्र और जीवन शैली फिल्में दिखा रही है, उनका आम आदमी के जीवन की वास्तविकता से दूर–दूर तक सम्बन्ध नहीं है। इन फिल्मों का नायक धनाढ्य वर्ग का युवक है या कोई प्रवासी भारतीय है जिसके जीवन में सबसे बड़ी समस्या है प्रेम को हासिल करना। पूरी फिल्म विवाह या प्रेम के इर्द–गिर्द केन्द्रित होती है। यह फिल्म आम–दर्शक को किसी स्वप्न लोक का अहसास करवाती हुई उसे जीवन और समाज से पलायन के लिए प्रेरित करती है। यह उसे जीवन के कटु यथार्थ से कुछ पलों के लिए मुक्त करने वाले नशे की भॉति सुखद अवश्य प्रतीत होती है लेकिन कोई सन्देश नहीं देती।

आर्थिक उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण ने सिनेमा में पूँजी के प्रवाह को प्रभावित करते हुए बाजारवाद का मार्ग प्रशस्त किया है। भारतीय सिनेमा के प्रारम्भ से फिल्म निर्माता बाजार से मोटी ब्याज दर पर पैसा लेकर फिल्मों में लगाया करते थे। 60–70 के दशक से देश में यह आम धारणा बनने लगी कि फिल्मों में अंडरवर्ल्ड अपनी काली कमाई लगा रहा है। "1993 में मुंबई में हुए बम विस्फोट कांड से अब तक छुपी हुई यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो गई कि फिल्म उद्योग से भूमिगत माफिया गिरोह का सीधा संपर्क है। ये गिरोह फिल्म निर्माण में अपना धन निवेश करते है साथ ही फिल्मों के प्रदर्शन, फिल्म निर्माण की सुनिश्चितता तथा फिल्म उद्योग के लोगों की सुरक्षा के बदले उनसे बड़ी रकम लेते है।"[6] सन् 1998 में फिल्म को उद्योग का दर्जा प्रदान कर सरकार ने उसे उबार लिया। अब फिल्मों के लिए बैंको से कर्ज मिलना आरम्भ हो गया। फिल्मों को अंडर वर्ल्ड से मुक्ति मिलते ही इस क्षेत्र में आर्थिक मुनाफे को देख अनेक कॉरपोरेट घराने फिल्म प्रोडक्शन के क्षेत्र में उतर आये। इन कॉरपोरेट कम्पनियों ने फिल्मों के आर्थिक पक्ष को व्यवस्थित कर, वित्तीय अभाव से जूझ रही और संघर्षरत युवा प्रतिभाओं को फिल्म–निर्माण के अवसर प्रदान किए। 21वीं सदी में इन नए निर्देशकों की सफलता

से सिनेमा के परिदृश्य में बदलाव आया। नये कथानकों और नये विषयों ने हिन्दी सिनेमा को समृद्ध किया। अब फिल्मों में भारत के छोटे शहरों की कहानियों को, आम–आदमी को भी जगह मिलने लगी। लगान (2001), खोसला का घोंसला, पीपली लाइव (2010) गैंग्स ऑफ वासेपुर (2012), दम लगा के हईशा (2012), अलीगढ़ (2016) नील बटे सन्नाटा (2016), जॉली एल.एल.बी. (2016), बरेली की बर्फी (2017) बधाई हो (2018), बाला (2019) आदि फिल्में आम जीवन के विविध रूपों को प्रस्तुत करती है।

यह बाजार का ही प्रभाव है कि नये कथानकों की तलाश में फिल्मकार न केवल बायोपिक बनाने की ओर आकर्षित हुए है बल्कि सफल क्षेत्रीय भाषाओं की फिल्म के रीमेक भी प्रस्तुत कर रहे है। डर्टी पिक्चर (2011), पान सिंह तोमर (2012), भाग मिल्खा भाग (2013), मैरीकॉम (2014), बाजीराव–मस्तानी (2015), नीरजा (2016), एम.एस.धोनीः द अनटोल्ड स्टोरी (2016),संजू (2018), राजी (2019), तान्हाजीः द अनसंग वॉरीयर (2020) जैसी बायोपिक फिल्मों की सफलता इसी तथ्य को प्रकट करती है।

आज किसी भी फिल्म की सफलता का पैमाना उसका 100 या 200 करोड़ के क्लब में शामिल होना है। बाजार ने आज हर वस्तु को उत्पाद में बदल दिया है। हर क्षेत्र में कामयाबी के फार्मूले खोजे जा रहे है, हिन्दी सिनेमा भी इस से मुक्त नहीं है। आज निर्माता, निर्देशक, वितरक और बड़े स्टार्स (जो फीस के रूप में फिल्म कें मुनाफे में हिस्सेदारी लेते है) का पूरा ध्यान कमाई पर रहने लगा है, आज फिल्म के प्रचार पर काफी ध्यान दिया जाता है। बाजार का आज हिन्दी सिनेमा पर जितना दबाव है, उतना पहले कभी नहीं था। लेकिन आज से पहले हिन्दी सिनेमा में प्रयोगधर्मिता, और सृजनात्मकता के लिए बाजार ने इतने सहज रूप में व्यावसायिक समीकरण भी कभी उपलब्ध नहीं करवाए थे। कोरोना काल में हिन्दी सिनेमा को भारी आर्थिक नुकसान हुआ है लेकिन ओटीटी प्लेटफार्म्स के रूप में उसके समक्ष बाजार ने ही नई संभावनाऐं भी प्रस्तुत की है। हिन्दी सिनेमा के लिए बाजारवाद का यह दौर पूरी तरह नकारात्मक नहीं रहा है। यह वह समय है जब तकनीक में क्रांति के परिवर्तन के कारण बहुत किफायत के साथ सिनेमा में प्रयोग किए जा सकते है और ऐसे अनेक प्रयोग भी हो रहे है। आज बाजार ने प्रयोगधर्मियों के लिए संभावनाओं के अनंत द्वार खोल दिए है।[7]

विश्व बाजार के कारण ही 21वीं सदी में फिल्म निर्माण की गुणवत्ता, सिनेमेटोग्राफी, एनीमेशन और स्पेशल इफेक्ट्स आदि में काफी सुधार आया है, क्रिश, रॉ वन जैसी फिल्में इसका उदाहरण है। अब विदेशों में हिन्दी सिनेमा की माँग बढ़ रही है, चीन में कुछ समय पूर्व हिन्दी फिल्मों की अपार सफलता यही दर्शाती है। 21वीं सदी के तीसरे दशक में प्रवेश करता हुआ हिन्दी सिनेमा आज समय और दर्शकों की माँग के अनुरूप बाजार को ध्यान में रखते हुए अपने आप में परिवर्तन कर रहा है। यही कारण है कि बाजारवाद की आँधी में जब विश्व के अन्य देशों के सिनेमा अपने अस्तित्व के संकट से जूझ रहे है, वही हिन्दी सिनेमा चुनौतियों के साथ आगे बढ़ रहा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सुनील खिलनानी, भारतनामा, राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली 2006, पृष्ठ–158
2. जगदीश्वर चतुर्वेदी एवं सुधा सिंह, डिजिटल युग में मास कल्चर और विज्ञापन, अनामिका पढिलशर्स, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ–118
3. प्रहलाद अग्रवाल, बाजार के बाजीगर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ–12
4. https://hi.m.wikipedia.org
5. प्रहलाद अग्रवाल, बाजार के बाजीगर, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली 2007, पृष्ठ–12
6. मृत्युंजय, सिनेमा के 100 बरस, शिल्पायन, दिल्ली, 2004, पृष्ठ–104
7. डॉ. एम. वेंकटेश्वर–भूमण्डलीकरण और हिन्दी सिनेमा, (आलेख), m. sahityakunj.net

❖◆❖